तृतीय परिच्छेद

गोस्वामी जी की धार्मिक भावना

धर्म तें विरति जोगतें ग्याना । ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना ।।

आचार का विवेचन—इनसाइक्लोपीडिया में नीति-शास्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि नीति शास्त्र दर्शन का वह पक्ष है, जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। इस विवेचन में औचित्य, अनौचित्य तथा शुभाशुभ का विचार विशेष रूप से होता है और यथासम्भव नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास किया जाता है। नीति-शास्त्र का झुकाव कभी तत्व-मीमांसा की ओर रहता है, तो कभी धर्म-दर्शन की ओर।[1]

नीति-बोध के अन्तर्गत निम्नलिखित दो तत्वों पर विचार किया जाता है—

१—आचार

२—धर्म

डॉ० देवराज का मत है कि नैतिक बोध तथा आचरण के दो पहलू हैं; जिन्हें हम नैतिक गुण कहते हैं, उनमें से साहस, उदारता आदि कुछ गुण व्यक्तित्व को आदर व श्रद्धा का पात्र बनाने वाले हैं, दूसरी कोटि के नैतिक गुण हमारे सामाजिक व्यवहार में, हमारे तथा दूसरे नर-नारियों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्रतिफलित होते हैं। राजाओं की नैतिक विशेषतायें उनकी प्रजा के सुख-दुःख का कारण बन जाती हैं।[2] डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र का मत है कि प्रत्येक मानव में ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह क्रमशः विकास करता हुआ सच्चिदानन्द बन जाये। जो सत्कर्म मानव के सच्चिदानंद बनने में सहायक होते हैं, उन्हें आचार कहा जाता है।[3] स्वतः अपने प्रति और अन्य

---

१. मानविकी पारिभाषिक कोष—दर्शन-खंड—पृष्ठ ८०

२. भारतीय संस्कृति—डॉ० देवराज—पृष्ठ १२७-१३२

३. भारतीय संस्कृति—पृष्ठ ११७

सामान्य अथवा असामान्य व्यक्तियों के प्रति उसके जो कर्तव्य होते हैं, वे व्यक्तिगत आचार कहलाते हैं। महाभारत में कहा गया है कि श्रेष्ठ पुरुष का व्यवहार आचार कहलाता है।[1] आचार से कीर्ति की प्राप्ति होती है[2] और सदाचार आदि गुणों का सन्निवेश होता है।[3] आचार का एक विशेष अंग धर्म है। सामान्य व्यवहार-नीति को आचार कहते हैं;[4] जबकि धर्म के अन्तर्गत श्रुतिस्मृति प्रतिपादित सत्य, दया आदि धार्मिक नियमों के परिपालन पर विचार किया जाता है।[5]

महाभारत में स्थान-स्थान पर व्यक्तिगत आचार का उपदेश किया गया है। महाभारत की विदुर नीति का प्रधान लक्ष्य, शक्ति एवं सम्पत्ति की प्राप्ति तथा संरक्षण है। उद्योग पर्व में विदुर ने कहा है कि जो पुरुष ऐश्वर्य चाहता है, उसे छह दोषों का परित्याग कर देना चाहिए—निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, भय, क्रोध और दीर्घसूत्रता।[6] जैसे सूखे सरोवर के ऊपर हंस मँडराकर ही रह जाते हैं, वैसे ही जो अज्ञानी और इन्द्रियों का गुलाम है, उसको अर्थ त्याग देते हैं।[7] न हमेशा तेज कल्याणकारी होता है और न सदैव क्षमा ही श्रेयस्कर होती है। जो हमेशा क्षमा करता है; वह बहुत से दोषों को प्राप्त होता है। इसीलिए क्षमा के अपवाद कहे गये हैं।[8] महाभारत के दूसरे प्रसंग में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी की निन्दा करता या उसे गाली देता हो, तो वह भी बदले में निन्दा या गाली न दे, क्योंकि जो व्यक्ति निन्दा

---

१. साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचार लक्षणम्। म० भा० अनु० १०४।९

२. आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ म० भा० अनु० १०४।६

३. आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचार प्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते॥ महाभारत अनु० १०४।१५५

४. आ+चर+घञ्। मन्वाद्युक्ते स्नानाचमनादि व्यवहारे च।
शब्दस्तोम महानिधिः पृष्ठ ६२

५. धृ+मन्। शास्त्र विहित कर्मानुष्ठानजन्ये भाविफलसाधन भूते शुभादृष्टे, श्रौते स्मार्ते कर्मणि। शब्दस्तोम महानिधिः–पृष्ठ २४६

६. षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ महाभारत उद्योग पर्व ३३।७८

७. चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा॥ महाभारत उ० ३३।८०

८. न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम्।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता। महाभारत-वनपर्व-२८।६८

या गाली सह लेता है; उस पुरुष का आन्तरिक दुःख ही गाली देने वाले या अपमान करने वाले को जला डालता है। साथ ही क्षमाशील व्यक्ति निन्दक पुरुष के पुण्य को भी छीन लेता है।[1]

सभी प्राणियों के प्रति दया और मैत्री का व्यवहार, दान और सबके प्रति मधुर वाणी का प्रयोग, तीनों लोकों में इनके समान महत्त्वपूर्ण वशीकरण का अन्य कोई उपाय नहीं है।[2] सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधनतत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुण से युक्त व्यक्ति को लक्ष्मी प्राप्त होती है।[3] जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, बड़े बूढ़ों की सेवा में तत्पर, जितेन्द्रिय, क्षमाशील और सामर्थ्यवान् हैं, वे ही लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।[4]

सदाचार से ही मनुष्य को आयु की प्राप्ति होती है, सदाचार से ही वह सम्पत्ति पाता है, तथा सदाचार से ही उसे इस लोक और परलोक में कीर्ति की प्राप्ति होती है।[5] अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, तो उसे इस जगत् में सदाचार का पालन करना चाहिये। पापी व्यक्ति भी सदाचार के द्वारा पुण्यात्मा हो जाता है।[6] सदाचार ही धर्म का लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषों की पहचान है।[7] अपनी भलाई चाहने वाले पुरुष को दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए तथा मुख से अप्रिय वचन नहीं निकालना चाहिए और किसी को क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिए।[8]

धर्म का विवेचन—धर्म शब्द धृञ् धारणे धातु से मन् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है; जिसका अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। महाभारत के अनुसार धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। सबको धारण करने के कारण ही इसे धर्म कहा जाता है। इसका नाम धर्म इसलिए पड़ा है:

---

१. आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
   आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ महाभारत आदिपर्व ८७।७
२. न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
   दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ महाभारत।आदिपर्व।८७।१२
३. महाभारत—अनु० पर्व ११।६
४. महाभारत, अनु० प० ११।१०
५. महाभारत, अनु० प० १०४।६
६. अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्। महाभारत। अनु० १०४।८
७. महाभारत, अनु० प० १०४।९
८. परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
   न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥ महाभारत। अनु०। १०४।१०५

क्योंकि वह सब को धारण करता है, अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है। अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो; वही धर्म है।[१] जैमिनि के मत से विधेय कार्यों को करने की प्रेरणा ही धर्म है।[२] वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जिससे लोक में अभ्युदय हो और पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस) की सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं।[३]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार धर्म के चार लक्षण होते है—

१. जो वेद में प्रतिपादित हो,
२. जो स्मृति में प्रतिपादित हो,
३. जो सदाचार की प्रेरणा देता हो,
४. जो अपने को प्रिय हो।[४]

मनु के मत से वेद में प्रतिपादित, वेदज्ञ विद्वानों और संतों द्वारा आचरित तथा आत्मा को सन्तोष प्रदान करने वाले आचार को धर्म कहते हैं।[५] पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुसार धर्म में वेद ही प्रमाण हैं।[६]

वेदों में धर्म का स्वरूप

ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्रों में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया-संस्कारों के अर्थ में हुआ है—

१—पितुं न स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ऋग्वेद १।१८७।१

---

१. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ महाभारत । कर्णपर्व । ६९।५८
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
महाभारत । शान्ति पर्व । १०९।११

२. अथातो धर्म जिज्ञासा ।
चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः । पूर्व मीमांसा १।१,२

३. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः । वैशेषिक दर्शन १।२

४. याज्ञवल्क्य स्मृति १।७

५. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु० २।१२

६. धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् । पूर्व मीमांसा दर्शन १।३।१

सायण भाष्य—महो महान्तं धर्माणं सर्वस्य धारकं·········महतो लोकस्य धारक······।

२—इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम् ।
अक्तुं न यह्वमुषसः पुरोहितं तनूनपातमरुषस्य निंसते ।।

ऋग्वेद १०।६२।२

सायण भाष्य—उभयवे देवमनुष्या रक्षक धर्माण धारक मिममग्निं ।

३—त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् । ऋग्वेद १।२२।१८

सायण भाष्य—गोपाः सर्वस्य जगतो रक्षको विष्णुः पृथिव्यादिस्थानेष्वत एतेषु त्रीणि पदानि वि चक्रमे । किं कुर्वन् ।
धर्माण्यग्निहोत्रादीनि धारयन् पोषयन् ।

४—समिधानः सहस्रजिदग्नेधर्माणि पुष्यसि ।
देवानां दूत उक्थ्यः । ऋग्वेद ५।२६।६

सायण भाष्य—हे सहस्रजित्सहस्रस्य जेतरग्ने समिधानो हविर्भिः समिध्यमान उक्थ्यः प्रशस्यस्त्वं देवानां दूतः सन् धर्माणि नः कर्माणि यज्ञादि क्रियाः पुष्यसि । पोषयसि ।

५—वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दधिषे ।। ऋग्वेद ९।६४।१

सायण भाष्य—हे सोम वृषा त्वं धर्माणि देवानां मनुष्याणां च हितानि कर्माणि दधिषे । धारयसि ।

६—शकमयं धूममाराद पश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन ।।

ऋग्वेद १।१६४।४३

सायण भाष्य—तानि तत्साधनानि धर्माण्यनुष्ठानानि प्रथमानि प्रथमानि प्रकृष्टानि फलपर्यवसानीयान्यासन् ।

७—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन ।
ते ह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

ऋग्वेद १०।९०।१६

सायण भाष्य—तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन ।

८—आ द्या रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुतेस्वाय धर्मणे ।
प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभर्जगत् ।।

ऋग्वेद ४।५३।३

सायण भाष्य—स्वाय धर्मणे स्वकीयाय धारणाय श्लोकं प्रशस्तिं कृणुते : करोति।

९—धर्मणा मित्रा वरुणा विपश्चिता व्रतारक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिविचित्र्यं रथम्॥

ऋग्वेद ५।६३।७

सायण भाष्य—धर्मणा जगद्धारकेण वृष्ट्यादिलक्षणेन कर्मणा········असुरस्य मेघानां निरसितुः पर्जन्यस्य मायया प्रज्ञया च········।

१०—घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वीपृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूतिरेतसा॥ ऋग्वेद ६।७०।१

सायण भाष्य—वरुणस्य सर्वस्य नियामकस्य धर्मणा धारणेन········।

११—यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभि द्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः॥

ऋग्वेद ७।८९।५

सायण भाष्य—तव त्वदीय यद्धर्म धारकं कर्म।

धर्म शब्द के उपर्युक्त धारण और धारक अर्थ वाजसनेयी संहिता (२, ३, ५, २७) में भी मिलते हैं।

मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेणधर्मणा।
विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्नि रिड ईडित। यजुर्वेद २।३

उवट भाष्य—धर्मणा धारकेण।

महीधर भाष्य—धर्मणा धारणेन। मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा।

यजुर्वेद ५।२७

महीधर भाष्य—ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन।

अथर्ववेद (९।९।१७) में धर्मशब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है—

ऋतं सत्यं तपो श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्य दुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती। अथर्ववेद १८।३।११

ऐतरेय ब्राह्मण में धर्मशब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है:
धर्मस्य गोप्ताजनीति तमम्युत्कृष्टमेवं विदभिषेक्ष्यन्नेतयार्चाभिमन्त्रयेत।

ऐतरेय ब्राह्मण ७।१७

ऋग्वेद में कहा गया है कि सत्य वचन और असत्य वचन में प्रतियोगिता चलती रहती है। दोनों में जो सत्य है, सोम उसी की रक्षा करता है और असत्य का हनन करता है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसीपस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यसत् ।। ऋग्वेद ७।१०४।१२

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि मनुष्य को सदैव सत्य बोलना चाहिये। असत्यभाषी अपवित्र होता है—

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति । शतपथ ब्राह्मण १।१।१।१

विद्वान् को सदैव सत्य बोलना चाहिए। सत्य बोलने के कारण ही विद्वान् को यश मिलता है—

स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्धवै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति । शतपथ ब्राह्मण १।१।१।५

शतपथ[1] ब्राह्मण और जैमिनीय[2] ब्राह्मण में बतलाया गया है कि जो व्यक्ति इस लोक में हिंसा करते हैं और यज्ञादि शुभ कर्म नहीं करते हैं, उन्हें परलोक में काटा जाता है। उनके शरीर का मांस, मनुष्य-जन्म में उनके द्वारा मारे गये व्यक्ति खाते हैं और पापियों को रक्त की नदी के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार परलोक में घृत की नदी भी होती है, जिसका उपभोग पुण्यात्मा लोग करते हैं।

ऋग्वेद में प्रतिपादित सदाचार की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि वहाँ ऋत के विचार का बहुत बड़ा महत्त्व है। जहाँ नियम कार्य करता है, वहाँ अव्यवस्था अथवा अन्याय केवल अस्थायी रूप से ही रह सकते हैं। ऋत हमारे आगे सदाचार के एक मानदण्ड को प्रस्तुत करता है। यह सत्य है अर्थात् वस्तुओं की यथार्थता है।[3]

वैदिक साहित्य में इन्द्रजाल, जादूविद्या, नारीहरण एवं व्यभिचार को पापकर्म बतलाया गया है—

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ।।
ऋग्वेद ७।१०४।८

जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, असत्यभाषण करते हैं, उन्हें नरक मिलता है—

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ।।
ऋग्वेद ४।५।५

१. घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुं । शतपथ ब्राह्मण २।१।६।१
२. जैमिनीय ब्राह्मण १।४२।४
३. भारतीय दर्शन—डॉ० राधाकृष्णन्, पृष्ठ ९९-१००

वेद में मद्यपान करना महापाप बतलाया गया है—

दुर्मदासो न सुरायाम् ॥ ऋग्वेद ८।२।१२

पापी व्यक्ति प्रारम्भ में तो फलता-फूलता दिखायी देता है, परन्तु अन्त में वह मूल सहित नष्ट हो जाता है। वेद में कहा गया है कि हे देव ! पाप ने मुझे नीचे गिरा दिया है। उसने मुझे नष्टकर दिया है। आप मुझे पुनः जीवन दान दें—

उत देवाः अवहितम् देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषम् देवाः जीवयथा पुनः । अथर्ववेद ४।१३।१

जैसे काठ में बंधा हुआ व्यक्ति बन्धनमुक्त होने पर आनन्द का अनुभव करता है; वैसे ही मुझे पापमुक्त कर आनन्द प्रदान करें—

द्रुपदादिव मुमुचान, स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूत पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥ यजुर्वेद २०।१०

पापों से मुक्ति हेतु प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है कि हे परमात्मन् ! हमने भूल से जो पाप किया है और व्यवहार में जो त्रुटि की है, उससे आप हमारी रक्षा कीजिये—

यदस्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जात वेदः ।
पाहि ततः त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥

अथर्ववेद ७।१०६।१

पाप वस्तुतः मृत्यु है। पुण्य धर्म का आचरण ही अमृत है—

उत देवाम अवहितम् देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषम् देवाः देवाः जीवयथा पुनः ॥ अथर्ववेद ४।१८।३

जो व्यक्ति समाज की आँखों में धूल झोंककर घर में बैठा हुआ गुप्तचार पाप किया करता है और उसके द्वारा किसी अन्य की हत्या करना चाहता है, वह नहीं जानता है कि वह अपनी शक्ति को नष्ट कर रहा है। जब यह शक्ति नहीं रहेगी, तो विविध प्रकार के क्लेश रूपी पत्थर फट्-फट् करते हुए उसके सिर पर गिरेंगे—

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मान स्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति । अथर्ववेद ४।१८।३

जैसे काठ में बंधा हुआ व्यक्ति छूटने पर आनन्द का अनुभव करता है, जैसे स्नान करके मनुष्य निर्मल हो जाता है; अथवा जैसे पसीने द्वारा मल बाहर निकल आता है, वैसे ही भगवान् मेरे पाप को दूर कर दें और आनन्द दें—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तुमैनसः । यजुर्वेद २०।१०

धर्म के चार रूप

धर्म के चार रूप होते हैं—

१. सामान्य धर्म—प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी नियमों का समुच्चय साधारण धर्म कहा जाता है।

२. असाधारण धर्म—जब धर्म के दो रूपों में विरोध प्रतीत होता है, तब वहाँ परिस्थितिवश स्वीकृत धर्म असाधारण धर्म कहा जाता है।

३. विशेष धर्म—वर्ण और आश्रम के अनुसार परिवर्तनीय नियम, विशेष धर्म के अंग हैं।

४. आपद्-धर्म—आपत्ति के समय प्राण रक्षा करने के लिए कभी-कभी मर्यादा का अतिक्रमण विधेय हो जाता है। ऐसी स्थिति में किये गये कार्य आपद् धर्म के अन्तर्गत परिगणित होते हैं।

सामान्य धर्म—मनु ने मनुष्य मात्र के लिये आचरणीय धर्म के निम्नलिखित दस अंग बतलाये हैं[1]—

१. धृति	६. इन्द्रिय-निग्रह
२. क्षमा	७. बुद्धि
३. दम	८. विद्या
४. अस्तेय	९. सत्य
५. शौच	१०. अक्रोध

मनु[2] ने धर्म के दस अंगों में से निम्नलिखित पाँच को विशेष महत्त्व प्रदान किया है—

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. शौच ५. इन्द्रिय-निग्रह

भागवत पुराण में धर्म के तीस अंग बतलाये गये हैं[3]—

---

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणं ।। मनुस्मृति ६।९२

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।। मनुस्मृति १०।६३

३. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।।

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

१. सत्य
२. दया
३. तप
४. शौच
५. तितिक्षा
६. शम
७. दम
८. अहिंसा
९. ब्रह्मचर्य
१०. त्याग
११. स्वाध्याय
१२. आर्जव
१३. सन्तोष
१४. समदर्शिता
१५. सेवा
१६. वासनाओं से विरक्ति
१७. विरोध-त्याग
१८. मौन
१९. आत्मलोचन
२०. प्राणियों को अन्नदान
२१. मनुष्यों में परमात्मा की अनुभूति
२२. श्रवण
२३. कीर्तन
२४. स्मरण
२५. दास्य
२६. सख्य
२७. आत्मनिवेदन
२८. पादसेवन
२९. अर्चन
३०. उचित अनुचित का विवेक।

असाधारण धर्म

धर्म के सत्यभाषण, अहिंसा आदि विभिन्न अंग बतलाये गये हैं। कभी-कभी हमारे सामने धर्म के दो रूप उपस्थित हो जाते है और उनमें से धर्म का कौन सा रूप पालनीय है, यह धर्म-विचिकित्सा उत्पन्न होती हो जाती है।[१] इस सम्बन्ध में महाभारत आदि में उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि धर्म के

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्ये हो परमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्म विमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्म देवता बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवे ज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति॥ भागवत ७।८-१२

१. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। गीता ४।१६

जिस रूप का पालन करने से अधिक प्राणियों की प्राणरक्षा होती है; धर्म का वही रूप पालनीय है। इसी प्रकार यदि सत्य-भाषण किसी निरपराध व्यक्ति की मृत्यु का कारण बनता है, तो वह त्याज्य है कौशिक के सत्य-भाषण से अनेक निरपराध व्यक्ति हिंसकों द्वारा मारे गये। अतएव कौशिक का यह सत्य-भाषण उसकी अधोगति का कारण बना।[1] कर्ण द्वारा अपमानित होने पर युधिष्ठिर ने जब गांडीव सहित अर्जुन के पौरुष की कुत्सा की, तो अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत हो गये। उस समय भगवान् कृष्ण ने धर्म के दोनों रूपों में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए अर्जुन से कहा कि "तुम युधिष्ठिर को निरादर सूचक वचन कह दो, इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा का पालन हो जायेगा। क्योंकि पूज्यों के लिए निरादर पूर्ण वचनों का प्रयोग उनको मारने के समान कष्टकारी होता है।" ईसी प्रसंग में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि असत्य-भाषण से यदि किसी के प्राणों की रक्षा होती हो, तो वहाँ असत्य-भाषण ही विधेय है।[2] जिससे प्राणियों का कल्याण होता हो, वही सत्य है।[3] अपने ऊपर प्राणसंकट उपस्थित होने पर एवं सर्वनाश की स्थिति आने पर असत्य बोलने में पाप नहीं लगता है।[4] इसी प्रकार व्यवहार में अहिंसा का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। दुष्टों का सामना होने पर उनका वध करना ही धर्म है। स्त्री और ब्राह्मण को अवध्य कहा गया है;[5] किन्तु आततायी होने पर ब्राह्मणत्व, स्त्रीत्व और शिशुत्व का विचार किये बिना इन्हें

---

१. अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनं ।
कतमेन पथा याता भगवन् बहवो जनाः । ४६
ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नुरिति श्रुतिः ।
तेनाधर्मेण महता वाग्दुरुक्तेन कौशिकः । ५२
गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्म धर्मेष्वकोविदः ।
यथा नाल्प श्रुतो मूढो धर्माणामविभागवित् ।। ५३
महाभारत कर्ण पर्व—६६। ४६, ५२, ५३

२. प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ।। महाभारत । कर्ण पर्व ६६।२३

३. यद् भूतहितमत्यन्तं तत सत्यमिति धारणा । महाभारत वन० २०८।४

४. प्राणात्यये विवाहे वा सर्वज्ञातिवधात्यये ।
नर्मण्यभि प्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेद् ।। महाभारत कर्ण० । ६६।६२
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम् । महाभारत । शान्ति । १०६।१६

५. सर्वथा स्त्री न हन्तव्या । महाभारत । शान्ति पर्व । १३५।१४
ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यम् । भागवत १।७।५३

मार डालना चाहिए। आततायी को मारने पर मारने वाले को कोई पाप नहीं लगता है, अपितु आततायी अपने पाप से ही मारा जाता है।[1] अग्नि लगाने वाला; विष देने वाला; शस्त्र लेकर मारने की इच्छा से आगे आने वाला; धन, पत्नी और भूमि का अपहरण करने वाला; ये छह प्रकार के आततायी कहे गये हैं।[2] इन आततायियों को देखते ही मार डालना चाहिए।[3]

विशेष धर्म

वर्ण-धर्म—मनुस्मृति में भिन्न-भिन्न वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्म बतलाये गये हैं। ब्राह्मण के धर्म हैं—

अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना।[4] प्रजा का रक्षण करना, दान देना, यज्ञ करना और विषयों में अनासक्ति—ये क्षत्रियों के कर्म हैं।[5] पशुओं का रक्षण करना, दान देना, अध्ययन करना, व्यापार और कृषि कार्य करना—ये वैश्यों के कर्म हैं।[6] शूद्रों का एक मात्र कर्म द्विजों की सेवा करना है।[7] गीता में कहा गया है कि ब्राह्मणों[8] का स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि; क्षत्रियों[9] का शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, दान देना और शासन करना; वैश्यों का कृषि,

---

१. नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
   प्रकाशं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥ मनुस्मृति ८।३५१

२. वसिष्ठ स्मृति ३।१६

३. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
   आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ मनु० ८।३५०

४. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
   दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु० १।८८

५. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ मनु० १।८९

६. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ मनु० १।९०

७. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
   एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० १।९१

८. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता १८।४२

९. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ गीता १८।४३

गोरक्षा तथा वाणिज्य और शूद्रों का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है।[1] अपने वर्ण-धर्म का पालन करने पर सिद्धि प्राप्त होती है।[2]

स्वधर्माचरण करते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर है और परधर्म देखने में सुन्दर होने पर भी भयावह है। अतएव सभी प्राणियों को अपने-अपने वर्ण-धर्म में दृढ़ता पूर्वक स्थित रहना चाहिये।[3] भारतीय संस्कृति के व्याख्याता महाकवि कालिदास ने कहा है कि वंश-परम्परा से चले आते हुए निन्दित कर्म का भी परित्याग नहीं करना चाहिये। पशु के वध रूपी कर्म में कठोर होने पर भी वेदज्ञ ब्राह्मण दया के भाव से युक्त होने के कारण कोमल हृदय वाला होता है।[4]

आश्रम धर्म—आश्रम धर्म का प्रतिपादन करते हुए मनु ने लिखा है कि कृतोपनयन द्विज वेदार्थ के ज्ञान रूप उत्तम तप को बढ़ाये और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे।[5] गृहस्थ धन धान्य से युक्त होकर शेष तीनों आश्रमियों का पालन करे।[6] वानप्रस्थ वन में रहकर नियमित रूप से अग्निहोत्र करे।[7] संन्यासी सभी प्राणियों में निर्वैरता, इन्द्रिय-विषय के त्याग और उग्र तपश्चरण के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करे।[8]

आपद्-धर्म—जब आपत्ति के समय धर्म के सामान्य-नियमों का अतिक्रमण कर प्राणरक्षा की जाती है, उस स्थिति में आचरित-व्यवहार आपद्-धर्म का वाचक होता

---

१. कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। गीता १८।४४

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। गीता १८।४५

३. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। गीता १८।४७

४. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशु मारण कर्मदारुणोऽनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः ।। अभिज्ञान शाकुन्तलम् ६।१

५. एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।। मनु० २।१८०

६. यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थाश्रमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।। मनु० ३।७७

७. अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।। मनु० ६।४

८. अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।। मनु० ६।७५

है। उपनिषदों में आपद्-धर्म के उदाहरण स्वरूप विश्वामित्र और उषस्ति के आख्यान प्रतिपादित किये गये हैं। एक बार अकाल पड़ने पर उषस्ति ने महावत के जूठे उड़द खाकर अपने प्राणों की रक्षा की, किन्तु उसका अपवित्र जल ग्रहण नहीं किया। महावत के प्रश्न करने पर उषस्ति ने कहा कि उड़द खाये बिना मैं जीवित नहीं रह सकता था, किन्तु जल तो यथेच्छ मात्रा में अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है।[१] अपने प्राणों की रक्षा करना परम धर्म कहा गया है।[२]

प्राचीन काल में नियोग-प्रथा भी आपद्-धर्म के रूप में स्वीकार्य रही है। इस प्रथा के अनुसार सन्तान विहीना विधवायें सन्तान प्राप्ति की कामना से अपने देवर या सपिंड के किसी भी व्यक्ति से नियोग कर सकती थीं, किन्तु इस विधि से केवल एक ही पुत्र उत्पन्न किये जाने का विधान है।[३] यद्यपि वंश को नष्ट होने से बचाने के लिए नियोग की आज्ञा है, किन्तु यह सामान्य धर्म या सामान्य काल में आचारणीय कार्य नहीं है। स्मृतिकारों ने नियोग की निन्दा की है।[४] यह कार्य केवल आपद्-धर्म के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। ब्राह्मणादिक के लिए तो आपद्-धर्म के रूप में भी नियोग की आज्ञा नहीं है।[५] वेन द्वारा प्रवर्तित नियोग-प्रथा[६] वर्ण-संकरता फैलाने का कारण है।[७]

हमें धर्म का पालन करना चाहिए और अधर्म से बचना चाहिये। अधर्म की

---

१. छान्दोग्य उप० १।१०।१-४

२. यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्॥ महाभारत। शान्ति। १४१।६५

३. देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये॥ मनुस्मृति ९।५९
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन॥ मनुस्मृति ९।६०

४. ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ मनुस्मृति ९।६८

५. नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥ मनुस्मृति ९।६४

६. अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥ मनुस्मृति ९।६६

७. स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः॥ मनुस्मृति ९।६७

पांच शाखायें हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल।[१] जिस कार्य को धर्म-बुद्धि से करने पर भी अपने धर्म में बाधा पड़े, वह विधर्म है। किसी अन्य के द्वारा पर पुरुष के लिए उपदेश किया हुआ धर्म परधर्म है। पाखंड या दम्भ का नाम उप-धर्म अथवा उपमा है। शास्त्र के वचनों का दूसरे प्रकार का अर्थ करना छल है।[२] मनुष्य अपने आश्रम के विपरीत स्वेच्छा से जिसे मान लेता है; वह आभास है।[३]

गोस्वामी तुलसीदास के धार्मिक विचार

सामान्य धर्म—याज्ञवल्क्य और मनु ने सामान्य धर्म के रूप में मानव जाति के कल्याणार्थ दस लक्षणों वाले सार्ववर्णिक धर्म का प्रतिपादन किया है। सामान्य धर्म के १० अंग हैं—दया, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, दान सत्य और अहिंसा। गोस्वामी जी ने धर्म के इन सभी अङ्गों के महत्व का प्रतिपादन किया है।

दया—किसी भी दुःखी प्राणी पर कृपा करना, उसके दुःख को न सह सकना और आपद्ग्रस्त की रक्षा करना दया है। गोस्वामी जी ने मोक्ष के साधनों का उल्लेख करते समय दया को गुरुता प्रदान की है। उन्होंने दया को सबसे बड़ा धर्म कहा है—

धर्म कि दया सरिस हरिजाना।

क्षमा—दूसरे के द्वारा किये गये अपराधों को भुला देना और प्रत्यपकार न करना क्षमा है।[४] गोस्वामी जी का मत है कि क्षमा करने से आत्मशक्ति में वृद्धि होती है और अभ्युदय होता है। क्षमाशील होने के कारण विष्णु सर्वपूज्य हुये और क्रोधी होने के कारण भृगु के वंशज भिक्षुक बने—

छमा रोष के दोष गुन, सुनि मनु मानहिं सीख।
अविचल श्रीपति हरिभए, भूसुर लहै न भीख॥ दोहावली। ४२७

क्रोधी होने के कारण सौ कौरव पांच पांडवों का अहित न कर सके, किन्तु क्षमावान् पांच पांडवों ने सौ कौरवों का विनाश कर डाला—

---

१. विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पंचमो धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥ भागवत ७।१५।१२
२. धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखंडो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥ भागवत ७।१५।१३
३. यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभाव विहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥ भागवत ७।१५।१४
४. परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं क्षमा।

कौरव पांडव जानिए, क्रोध छमा के सीम।
पांचहि मारि न सौ सके, सयौ संघारे भीम॥ दोहावली।४२८

दम—विकार का कारण उपस्थित होने पर भी मन में विकार न होना दम का लक्षण है। सनन्दन के मत से मन का दमन दम कहलाता है। गोविन्दराज के मत से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णु होना दम का लक्षण है।[1] गोस्वामी जी ने मोक्ष के साधनों में दम का उल्लेख किया है—

ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
रामचरितमानस ७।४९।१

नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
रा० च० मा० ७।१२६।३

अस्तेय—दूसरे के धन को अन्याय पूर्वक ग्रहण करना स्तेय है। स्तेय का अभाव अस्तेय कहलाता है।[2] तुलसीदास जी का मत है कि दूसरे का धन विषवत् त्याज्य है—

धन पराव बिष तें बिष भारी। रामचरितमानस २।१३०।३

शौच—मलों के अपनयन को शौच कहते हैं।[3] यह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहार से द्रव्य की और उसके अन्न से आहार की तथा यथायोग्य व्यवहार से आचरण की एवं जल और मृत्तिका आदि से शरीर की शुद्धि को बाह्य शुद्धि कहते हैं। राग, द्वेष और कपट आदि विकारों का नाश होकर अन्तःकरण का स्वच्छ हो जाना आभ्यन्तर शुद्धि है। गोस्वामी जी ने बाह्य शौच,

सकल सौच करि जाइ नहाए। रामचरितमानस १।२२७।१

कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ। रा० च० मा० १।३५८

और अभ्यन्तर शौच,

बोले मुनि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि। रा० च० मा० १।२३०

छल बिहीन सुचि सरल सुबानी। रा० च० मा० २।१६७।२

दोनों का उल्लेख किया है।

---

1. विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः।
मनसो दमनं दम इति सनन्दनवचनात्। शीतातपादि—
द्वन्द्व सहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः।
2. अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयम्।
3. यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचम्।

इन्द्रिय-निग्रह—विषयों की ओर से इन्द्रियों को पराङ्मुख कर लेना इन्द्रिय-निग्रह है।[1] गोस्वामी जी इन्द्रिय-निग्रह को मोक्ष के लिये आवश्यक मानते हैं—

पांचइ पांच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिए, बहुरि परब भव कूप ॥ विनय० २०३।६

अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अलग रहना चाहिये। इनके वश में होने से भव-बन्धन होता है। काम, क्रोध आदि दुर्गुण नरक के पन्थ हैं। अतएव इनका त्याग कर देना चाहिए—

काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि सन्त ॥

रा० च० मा०। सुन्दर काण्ड। ३८

धी—शास्त्रादि के अनुशीलन से उत्पन्न तत्त्वज्ञान को धी कहते हैं।[2] गोस्वामी जी का मत है कि वाक्य-ज्ञान से जीव का कल्याण नहीं होता। जब तक जीव के हृदय में स्थित भ्रम की गाँठ नहीं छूट जाती; तब तक उसका मोक्ष नहीं होता—

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन, भव पार न पावै कोई।
ज्यों निशि मध्य दीप की बातन्हि, तम निवृत्ति नहिं होई ॥

विनयपत्रिका १२३।२

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी ॥

रामचरितमानस ७।११७।२,३

दान—अपने उपार्जित धन में से कुछ अंश ब्राह्मणादिक को श्रद्धापूर्वक देना दान कहलाता है। दान तीन प्रकार का होता है, (१) सात्त्विक (२) राजस (३) तामस। प्रत्युपकार न करने वाले व्यक्ति को दिया जाने वाला दान सात्त्विक दान कहलाता है। प्रत्युपकार की भावना से दिया जाने वाला दान राजस है और जो दान नीच व्यक्तियों को दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।[3] दान में

---

१. विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः।

२. शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः।

३. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ गीता १७।२०-२२

श्रद्धाभाव आवश्यक होता है।[1] मनु ने कलियुग में एकमात्र दान को ही फलदायक माना है।[2] गोस्वामी जी का मत है कि किसी भी भाव से दान दिया जाए, वह दाता का अवश्य कल्याण करता है—

जेन केन बिधि दीन्हें, दान करइ कल्यान । रा० च० मा० ७।१०३

सत्य—यथार्थ वचन को सत्य कहते हैं।[3] गोस्वामी जी ने सत्य को अन्यतम धर्म कहा है—

धरमु न दूसर सत्य समाना । रा० च० मा० २।९५।३

उनके मत से सत्य ही सम्पूर्ण पुण्यों का मूल है—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए । बेद पुरान बिदित मुनि गाए ।।

रामचरितमानस २।२८।३

शिवि और दधीचि आदि ने कष्ट सहकर भी सत्य की रक्षा की थी—

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा । तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा ।।

रामचरितमानस २।३०।४

अहिंसा—किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। अहिंसा को शास्त्रों में परमधर्म कहा गया है।[4] गोस्वामी जी ने भी अहिंसा को परम धर्म कहा है—

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा । रा० च० मा० ७।१२१।११

अहिंसक व्यक्ति पर पीड़ा से बचता है, क्योंकि दूसरों को दुःख पहुँचाने से बढ़कर कोई पाप नहीं है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।
नर सरीर धरि जे पर पीरा । करहिं ते सहहिं महा भवभीरा ।।

रामचरितमानस ७।४१।१,२

प्राणियों से द्रोह करने वाला व्यक्ति अपने पापों के कारण नष्ट हो जाता है—

चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई ।

रामचरितमानस । सुन्दरकाण्ड । ३८।४

गोस्वामी जी ने मानव मात्र को धर्म के पालन की ओर प्रवृत्त करते हुए कहा है कि धर्म का पालन करने से ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति होती है और

---

१. श्रद्धया देयम् अश्रद्धया अदेयम् । तै० उप० १।११
२. दानमेकं कलौयुगे । मनुस्मृति १।८६
३. यथार्थाभिधानं सत्यम् ।
४. अहिंसा परमो धर्मः । महाभारत । अनु० ११५।१

धार्मिक व्यक्ति को सुख और सन्तोष का अनुभव होता हैं; तथा उसके हृदय में वैराग्य का भाव जागरित हो जाता है—

धर्म तड़ाग ग्यान बिग्याना । ए पंकज बिकसे बिधि नाना ।।
सुख सन्तोष बिराग बिबेका । बिगत सोक ए कोक अनेका ।।

रामचरितमानस ७।३१।४

धर्म के नियमों का पालन करने में सहिष्णुता और तितिक्षा की आवश्यकता होती है । इसीलिये कहीं हजारों व्यक्तियों में से एक व्यक्ति धार्मिक होता है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ।।

रामचरितमानस ७।५४।१

वेदों में धर्मपालन करने की आज्ञा दी गयी है । अतः धर्म का पालन न करने वाले वेदज्ञ का ज्ञान व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा धर्माचारी व्यक्ति श्रेष्ठ है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी । तिन्ह महुँ निगम धरमु अनुसारी ।।

मानस ७।८६।२,३

जो व्यक्ति धर्म का आचरण करते हैं, उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है—

सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं ।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन, सुख संजुत जाहिं ।।

रामचरितमानस ३।३६

धर्माचरण से प्रभु चरणों में प्रीति उत्पन्न हो जाती है—

नाना कर्म धर्म ब्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ।।
× × ×
जहँ लगि साधनें बेद बखानी । सब कर फल हरिभगति भवानी ।।

रा० च० मा० ७।१२६।३,४

जप तप नियम जोग निज धर्मा । श्रुति संभव नाना सुभ धर्मा ।।
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन । जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।।
× × ×
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ।।

रामचरितमानस ७।४९।१,२

धर्म का पालन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है । वैराग्य से संसार की नश्वरता का ज्ञान होता है, जो मोक्ष का साधन है—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना । ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।।

रा० च० मा० ३।१६।१

गोस्वामी जी के आदर्श रामराज्य में सभी लोग अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करते थे—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

रा० च० मा० ७।२०।१

चतुष्पादात्मक धर्म

श्री मद्भागवत पुराण में धर्म के चार पाद बतलाये गये हैं, सत्य, दया, तप और दान ।[1] गोस्वामी जी ने धर्म के चार पाद स्वीकार किये हैं—

चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥

रामचरितमानस ७।२१।२

व्यास[2] और मनु[3] के मत से सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को सर्वोपरि धर्म माना गया है । गोस्वामी जी का मत है कि यद्यपि धर्म के चार चरण होते हैं; किन्तु कलियुग में केवल दान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है—

प्रगट चारि पद धर्म के, कलि महुँ एक प्रधान ।
जेन केन बिधि दीन्हें, दान करइ कल्यान ॥

रामचरितमानस ७।१०३

कवि ने धर्मरथ के रूपक के माध्यम से धर्म के विविध अंगों का प्रतिपादन किया है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥

रामचरितमानस । लंकाकाण्ड ८०।३-६

---

1. सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप । भागवत १२।३।१८
2. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम् ।
   द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे ।। महाभारत । शान्ति पर्व २३१।२८
3. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
   द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ।। मनुस्मृति १।८६

अर्थात् शौर्य, धैर्य, शील, दम, परोपकार, क्षमा, कृपा, समता, भजन, वैराग्य, संतोष, दान, विज्ञान, मन की निर्मलता, सम, दम, यम, नियम आदि धर्मरूपी रथ के अंग हैं। इन गुणों में सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म दोनों के ही लक्षण समाविष्ट हैं। प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त अंगों वाले धर्म का पालन कर काम, क्रोध आदि रिपुओं पर विजय प्राप्त कर प्रभु कृपा का अधिकारी बन सकता है।

गोस्वामी जी ने ज्ञान-दीपक के प्रसंग में भी धर्म के विविध अंगों का उल्लेख किया है—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ॥

रामचरितमानस ७।११७।५-८ से ७।११७ तक

अर्थात् सात्विक श्रद्धा जप, तप, व्रत, यम, नियम, निवृत्ति और मन की निर्मलता[1] से धार्मिक वृत्ति का उदय होता है। धर्म से निष्काम भाव उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् संतोष, धैर्य, मुदिता, दम, सत्यनिष्ठा और वैराग्य की भावना का जन्म होता है। तदनन्तर निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, जो मोक्ष का कारण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म मोक्ष का साधक है। धर्म के बिना मोक्ष की सिद्धि असम्भव है।

असाधारण धर्म—महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका एक बार सरोवर में कामरत गन्धर्व-युगल को देखकर स्वयं काम मोहित हो गयी। उसके इस मानसिक अपराध पर क्रुद्ध होकर जमदग्नि ने परशुराम के अतिरिक्त अपने अन्य पुत्रों से रेणुका का वध करने के लिए कहा। उनके अस्वीकार करने पर पिता की आज्ञा होने पर

१. अन्तरिन्द्रिय निग्रहः शमः। बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः। विक्षेपाभाव उपरतिः। शीतोष्णादिद्वन्द्व सहनम् तितिक्षा। गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। चित्तैकाग्रयम् समाधानम्। शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षा समाधानश्रद्धाख्याः।
वेदान्तसार—पृष्ठ ४

परशुराम ने माता रेणुका और अपने सभी भाइयों को मार डाला। फिर पिता से उन सबको पुनर्जीवित करने का वरदान माँगा। पुत्र के लिए माता और पिता दोनों पूज्य हैं, किन्तु पिता की अपेक्षा माता अधिक आदरणीय है।[1] परशुराम के अन्य भाइयों ने इसीलिए पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया था, किन्तु माँ के (केवल मन से) पतित होने पर परशुराम ने पिता की आज्ञा होने पर माता का वध किया।[2] यह असाधारण धर्म का पालन हुआ। ताड़का स्त्री होने के कारण अवध्य थी। किन्तु वह आततायिनी थी। अतएव उसे लोककंटक समझकर श्रीराम ने उसका वध किया।[3] रावण उत्तम कुल वाले पुलस्त्य का वंशज था।[4] ब्राह्मण होने के कारण वह सामान्य धर्म के अन्तर्गत अवध्य था। किन्तु वह लोकोत्पीड़न करता था। उसका जीवन कंटक की भाँति दूसरों के लिए दुःख का कारण था। लोकधर्म की दृष्टि से भगवान् श्रीराम ने लोक को रुलाने वाले रावण का वध कर दिया।[5] ये सभी प्रसंग असाधारण धर्म के उदाहरण माने जायेंगे।

विशेष धर्म—गोस्वामी जी ने विशेष धर्म के अन्तर्गत वर्णधर्म, आश्रम धर्म, पुत्र धर्म, स्त्री धर्म और युगधर्म का विवेचन किया है।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म—धर्मशास्त्र में वर्णधर्म और आश्रमधर्म का प्रतिपादन किया गया है। जो व्यक्ति अपने निर्धारित वर्ण-धर्म अथवा आश्रम-धर्म का पालन नहीं करता है, वह निन्दनीय है—

---

१. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ मनुस्मृति २।१४५

२. परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी ॥

× × ×

अनुचित उचित बिचारु तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन ॥ रा० च० मा० २।१७४

३. चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ॥
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥

रामचरितमानस १।२०६।३

४. उपजे जदपि पुलस्त्यकुल, पावन अमल अनूप। रा० च० मा० १।१७६

५. सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर करि रोषा ॥
लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रुंड महि नाचा ॥

× × ×

डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिन्धु सरि दिग्गज भूधर ॥

रा० च० मा० ६।१०३।१-३

सोचिअ विप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु विषय लयलीना ।।
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ।।
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ।।
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी । मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी ।।

× × ×

सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ।।
सोचिअ गृही जो मोहबस, करइ करम पथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच रत, विगत बिबेक बिराग ।।
बैखानस सोइ सोचै जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ।।

रामचरितमानस २।१७२।२ से २।१७३।१ तक

अर्थात् जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन न कर विषयों में निरत रहता है, वह निन्द्य है। जो क्षत्रिय समाज की रक्षा नहीं करता और धर्म को समाज में प्रतिष्ठित करने में सहायता नहीं करता, वह उपेक्षणीय है। जो वैश्य धन-धान्य के द्वारा समाज को श्री-सम्पन्न नहीं बनाता और जो कार्पण्य दोष से युक्त है, उस वैश्य की निन्दा करनी चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मण का अपमान करने वाला शूद्र शोचनीय है। जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता और अपने गुरु की आज्ञा की उपेक्षा करता है, वह शोक करने योग्य है। गृहस्थ का धर्म है कि वह धन-धान्य से युक्त होकर परिवार की रक्षा करे। जो गृहस्थ अपने धर्म की उपेक्षा करता है, वह समाज में स्वयं उपेक्षित हो जाता है। जो वानप्रस्थ वन में रहकर तपस्या नहीं करता है, वह निन्दनीय है। इसी प्रकार जो संन्यासी संसार से अनासक्त नहीं होता, अपितु राग-द्वेष से युक्त रहता है, वह निन्दा का पात्र होता है।

पुत्र-धर्म—पुत्र का धर्म है कि वह अपने माता-पिता की निश्छल भाव से सेवा करे—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।

रा० च० मा० २।४१।४

धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ।।
चारि पदारथ करतल ताकें । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ।।

रामचरितमानस २।४६।१

स्त्री-धर्म—स्त्री का धर्म है कि वह अहर्निश अपने पति की सेवा करे। कवि ने पतिव्रता स्त्रियों के चार प्रकार निर्धारित किए हैं, जो स्त्रियों की पतिविषयक निष्ठा पर आधारित हैं—

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ।।
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।।
मध्यम परपति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।।
बिनु अवसर भय ते रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ।।
पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ।।
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ।।
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ।।
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ।।
सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ।।

रामचरितमानस । अरण्यकाण्ड ५।६ से ५ तक

पति चाहे अन्धा हो या अत्यन्त दीन तथा अपाहिज हो, किन्तु स्त्री का धर्म है कि वह ऐसे असहाय पति की भी सेवा करे और भूल कर भी उसका अपमान न करे—

बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ।।

रामचरितमानस ३।५।८-९

युग-धर्म

शास्त्रों में युग-धर्म के रूप में चारों युगों के प्रवृत्ति भेद से भिन्न-भिन्न धर्मों का उल्लेख किया गया है। गोस्वामी जी का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति के दैनन्दिन जीवन में परिस्थितिवश इन युग-धर्मों का आवर्तन होता रहता है। हृदय में हर्ष और सबके प्रति समता का भाव होना, यह सत्ययुग का धर्म है। जब जीव के हृदय में धर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, तब वह त्रेतायुग के युग-धर्म की स्थिति में होता है। जब हृदय में रजोगुण की अधिकता हो और थोड़ा तामस भाव भी हो, तब द्वापर युग का धर्म समझना चाहिये, जब रजोगुण की अल्पता तथा तमोगुण की अधिकता हो, तब कलियुग का धर्म व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति-भेद से प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न समय में प्रतिदिन चारों युगों के धर्मों से युक्त हो जाता है। अतः हमें इस बात का प्रयास करना चाहिये कि हम शान्त रहें, किसी के प्रति राग-द्वेष न रखें और सात्त्विक कर्म करें। इस प्रकार कलियुग में होते हुए भी हम सत्ययुग और त्रेतायुग के धर्मों और गुणों से युक्त होंगे तथा हमारा जीवन सुख-शान्तिमय बन जायेगा—

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदयँ राम माया के प्रेरे ।।
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ।।
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ।।
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस ।।
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ।।
बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ।।

रामचरितमानस ७।१०४।१-३

आपद्-धर्म

जब परिस्थितिवश अपने आश्रम या वर्ण के धर्म का त्याग कर दूसरे आश्रम या वर्ण के धर्म का पालन किया जाता है, तब वह आपद् धर्म कहलाता है। क्षत्रिय के लिए भिक्षा माँगना आपद्-धर्म माना जायेगा। भरत तीर्थराज प्रयाग से भगवान् श्रीराम के चरणों में रति की भिक्षा माँगते हैं। यह आपद्-धर्म का उदाहरण है—

मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ।।
अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी ।।
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन ।।

रामचरितमानस २।२०४।४ से २।२०४ तक